UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182585

UNIVERSAL
LIBRARY

P—901—26-3-70—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H·81·08 Accession No. G.H. 596

Author G97S

Title गुप्त, प्रियवंदा

भारता

This book should be returned on or before the date last marked below.

सारदा

संकलनकर्त्री तथा संपादिका
श्रीमती प्रियवंदा गुप्ता बी. ए.

प्रकाशक
हिन्दी-भवन, लाहौर

मूल्य ॥=)

सूची

जयशंकर प्रसाद १
बीती विभावरी जाग री १
निज अलकों के अंधकार में २
ले चल वहाँ भुलावा देकर २
आँसू ३
मैथिलीशरण गुप्त ५
स्वयमागत ५
यशोधरा ७
मेरा देश ९
ऊर्मिला की विरह-वेदना ९१
सूर्यकांतत्रिपाठी निराला १३
तुम और मैं १३
क्या गाऊँ ! १५
जागो फिर एक बार १६
सुमित्रानंदन पंत १९
छाया १९
अप्सरा २३
अल्मोड़े का वसंत २७
राष्ट्र-गान २७
रामधारीसिंह "दिनकर" ३०
अयि कल्पने ३०
विपथगा ३१
हिमालय ३४
खोज करता हूँ उसी
आधार की ३८
सुभद्राकुमारी चौहान ३९
ठुकरा दो या प्यार करो ३९
झाँसी की रानी ४१
बालिका का परिचय ४९
हरिवंश राय बच्चन ४७
लहरों का निमंत्रण ४७
मधुबाला ५५
भगवतीचरण वर्मा ६०
एकाकी ६०
भैंसा-गाड़ी ६२
सुमित्राकुमारी सिन्हा ६८
शेष रहा अब क्या करने को ६२
ओ पिपासित ७०

Checked 1969

जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म—माघ शुक्ला द्वादशी सम्वत् १९४६

मृत्यु—कार्तिक शुक्ला एकादशी सम्वत् १९९४

प्राचीन भारतीय संस्कृति का वह उपासक अपने जीवन पर्य्यंत केवल मुस्क्यान-छटा ही नहीं साहित्य-सुधा भी बरसाता रहा। उसके गीतों में नवीनता, भाषा में प्रौढ़ता, विचारों में परिपक्वता और व्यंजना में अद्भुत नूतनता है। वह प्रेम का कवि था, कोमलता और सौंदर्य उसकी कल्पना के द्वारा साकार हो उठे हैं। उसकी तान में अनोखा अलबेलापन हैं, उसके स्वर में विचित्र सुरीलापन है।

वह तथागत की करुणा का चतुर चित्रकार है और है तपस्या एवं साधना का अमर कवि!

गीत

बीती विभावरी जाग री।
अंबर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी!
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमंद पिये
अलकों में मलयज बंद किये—
तू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहाग री।

निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे ।
आह, चूम लूँ जिन चरणों को चाँप चाँप कर उन्हें नहीं-
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही ।

वसुधा चरण-चिह्न-सी बन कर यहीं पड़ी रह जावेगी ।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे अपना भाल सजावेगी ।
देख न लूँ इतना ही तो है इच्छा ? लो सिर झुका हुआ ।
कोमल किरन-उँगलियों से ढक दोगे यह दृग खुला हुआ ।

फिर कह दोगे, पहचानो, तो मैं हूँ कौन बताओ तो ।
किंतु उन्हीं अधरों से पहिले उनकी हँसी दबाओ तो ।
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो ।
वेला बीत चली है चंचल बाहु-लता से आ जकड़ो ।

× × ×

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है धरा, सुनो ।
मानस जलधि रहे चिर चुंबित-
मेरे क्षितिज ! उदार बनो ।

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे ।
जिस निर्जन में सागर लहरी
अंबर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे ।

जहाँ साँझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया;
नीले नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घनी रे,
जिस गंभीर मधुर छाया में—
विश्व चित्रपट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से—
जहाँ सृजन करते-मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे!

आँसू

इस करुणाकलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती,
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती।
क्यों छलक रहा दुख मेरा ऊषा की मृदु पलकों में,
हाँ! उलझ रहा सुख मेरा संध्या की घन अलकों में।
जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।
बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की उसी हृदय में,
नक्षत्र लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।

ये सब स्फुलिंग हैं, मेरी उस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महामिलन के।
शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृग-जल का।
यह व्यर्थ साँस चल चल कर करती है काम अनिल का॥

बाडव-ज्वाला सोती थी इस प्रणय-सिंधु के तल में।
प्यासी मछली-सी आँखें थीं विकल रूप के जल में॥
बुलबुले सिंधु के फूटे नक्षत्र मालिका टूटी।
नभ-मुक्त-कुंतला धरणी दिखलाई देती लूटी॥

छिल छिल कर छाले फोड़े मल मल कर मृदुल चरण से।
धुल धुल कर बह रह जाते आँसू करुणा के कण से॥
अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना।
सुख का सपना हो जाना भीगी पलकों का लगना॥

चातक की चकित पुकारें श्यामाध्वनि सरल रसीली।
मेरी करुणार्द्र कथा की टुकड़ी आँसू से गीली॥
नीरव मुरली कतरव चुप अलिकुल थे बंद नलिन में।
कालिंदी बही प्रणय की इस तममय हृदय पुलिन में॥

जल उठा स्नेह, दीपक-सा, नवनीत हृदय था मेरा,
अब शेष धूम रेखा से, चित्रित कर रहा अँधेरा।
किंजल्क जाल हैं बिखरे उड़ता पराग है रूखा,
क्यों स्नेह सरोज हमारा, विकसा मानस में सूखा?

काली आँखों में कैसी, यौवन के मद की लाली,
मानिक-मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।
तिर रही अतृप्त जलधि में, नीलम की नाव निराली,
काला-पानी वेला-सी, है अंजन रेखा काली।

मैथिलीशरण गुप्त

जन्म—संवत् १९४३

राष्ट्रीय-वीणा का वह स्वर-साधक, साहित्य-साधना का ऋषि हमारी भारतीय सरलता और स्पष्टवादिता का प्रतीक है। उसके हृदय की महानता और विचारों के उत्कर्ष का पूरा परिचय तभी प्राप्त हो सकता है जब उसके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। वह संसार के कोलाहल से दूर अपनी विज्ञापनहीन प्रवृत्ति को लेकर चिरगाँव के एक कोने में हमारा प्रतिनिधित्व करता है। प्राचीन और वर्तमान युग-धर्म के आदर्शों का अपूर्व सामंजस्य उसकी कृति के अतुल रत्न हैं जिनकी आभा में आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। 'कृष्ण-मंदिर' में जाकर अनेक बार वह अपनी भाषा और भावों को मननशीलता का कवच पहना चुका है। वह हम सब का कवि है।

स्वयमागत

तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?
सब द्वारों पर भीड़ मची है,
कैसे भीतर जाऊँ मैं?
द्वारपाल भय दिखलाते हैं,
कुछ ही जन जाने पाते हैं।
शेष सभी धक्के खाते हैं।
क्योंकर घुसने पाऊँ मैं?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?

मुझमें सभी दैन्य दूषण हैं,
वस्त्र नहीं, क्या आभूषण हैं,
किंतु यहाँ लज्जित पूषण हैं,
अपना क्या दिखलाऊँ मैं ?
तेरे घरके द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं ?

मुझ में तेरा आकर्षण है,
किंतु यहाँ घन संघर्षण है,
इसीलिए दुर्द्धर धर्षण है,
क्योंकर तुझे बुलाऊँ मैं ?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं ?

तेरी विभव कल्पना करके,
उसके वर्णन से मन भर के,
भूल रहे हैं जन बाहर के,
कैसे तुझे भुलाऊँ मैं ?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं ?

बीत चुकी है वेला सारी,
किंतु न आई मेरी बारी,
करूँ कुटी की अब तैयारी,
वहीं बैठ गुन गाऊँ मैं,
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं ?

कुटी खोल भीतर जाता हूँ,
तो वैसा ही रह जाता हूँ,
तुझको यह कहते पाता हूँ,
"अतिथि ! कहो क्या लाऊँ मैं।"
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं ?

यशोधरा

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
मेरे लिए पिता ने सब से धीर-वीर वर चाहा।
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हट कर हाय ! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा।
किस योद्धा ने बढ़कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा ?
क्यों कर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।
देख कराल काल-सा जिसको काँप उठे सब भय से,
गिरे प्रतिद्वंदी नंदार्जुन, नागदत्त जिस हय से।
वह तुरंग पालित-कुरंग-सा नत हो गया विनय से।
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय जय से।
निकला वहाँ कौन उन जैसा प्रबल पराक्रमकारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना,
सबने मेरा भाग्य सराहा, सब ने रूप बखाना,

खेद, किसी ने उन्हें न फिर भी ठीक ठीक पहचाना,
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना।
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
मेरे रूप-रंग यदि तुझको अपना गर्व रहा है,
तो उसके झूठे गौरव का तूने भार सहा है,
तू परिवर्तनशील, उन्होंने कितनी बार कहा है,
'फूला दिन किस अंधकार में डूबा और बहा है?'
किंतु अंतरात्मा भी मेरा था क्या विकृत-विकारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।
मैं अबला! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्ति! पर वे कब थे विषयों के चेरे?
अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे?
हा! अपने अंचल में किसने ये अंगार बिखेरे?
है नारीत्व मुक्ति में भी तो अहो विरक्ति-विहारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी फिर उसकी क्या गति है?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझ से आज विरति है!
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है!
मैं भी नहीं अनाथ जगत में मेरा भी प्रभु पति है!
यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार-भय भारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
यशोधरा के भूरि भाग्य पर ईर्ष्या करने वाली।
तरस न खाओ कोई उस पर, आओ भोली-भाली!
तुम्हें न सहना पड़ा दुःख यह, मुझे यही सुख आली।
वधू-वंश की लाज दैव ने आज मुझी पर डाली।

बस, जातीय सहानुभूति ही मुझ पर रहे तुम्हारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी।
जाओ नाथ! अमृत लाओ तुम, मुझ में मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी—
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में, मेरी करुण-कहानी?
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधराकरधारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी वारी।

मेरा देश

बलिहारी तेरा वरवेश,
मेरे भारत! मेरे देश!
बाहर मुकुट-विभूषित भाल,
भीतर जटाजूट का जाल।
ऊपर नभ, नीचे पाताल,
और बीच में तू प्रणपाल।
बंधन में भी मुक्तिनिवेश,
मेरे भारत! मेरे देश!
कभी मुरज-मृद वीणा-वाद,
कभी स्वरों से साम-निनाद।
कभी गगनचुंबी प्रासाद,
कभी कुटी में हो आह्लाद।
नहीं कभी भी भय का लेश,
मेरे भारत! मेरे देश!

है तेरी कृति में विक्रांति,
भरी प्रकृति में निश्चल शांति।
फटक नहीं सकती है भ्रांति,
आँखों में है अक्षय कांति।
आत्मा में है अज अखिलेश,
मेरे भारत! मेरे देश!
सरस्वती का है तुझ में वास,
लक्ष्मी का भी विपुल विलास।
प्रिया प्रकृति का पूर्ण विकास,
फिर भी है तू आप उदास।
हे गिरीश! हे अंबर केश!
मेरे भारत! मेरे देश!
मस्तक में रखता है ज्ञान,
भक्ति-पूर्ण मानस में ध्यान।
करके तू प्रभु-कर्म विधान,
है सत् चित् आनन्द निधान।
मेटे तूने तीनों क्लेश।
मेरे भारत मेरे देश!
इधर विविध लीला विस्तार,
उधर गुणों का भी परिहार।
जिधर देखिए पूर्णाकार,
किधर कहें हम तेरा द्वार?
हृदय कहीं से करे प्रवेश।
मेरे भारत! मेरे देश!
तन से सब भोगों का भोग,
मन से महा अलौकिक योग।

पहले संग्रह का संयोग,
स्वयं त्याग का फिर उद्योग।
अद्भुत है तेरा उद्देश।
मेरे भारत! मेरे देश!
बनकर तू चिर साधन धाम,
हुआ स्वयं ही आत्माराम।
किया नहीं तब तक विश्राम—
जब तक पूरा किया न काम।
दिये तुम्हीं ने सब उपदेश।
मेरे भारत! मेरे देश!

उर्मिला की विरह-वेदना

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है।
सीस हिलाकर दीपक कहता—
'बंधु वृथा ही तू क्यों दहता'?
पर पतंग पड़ कर ही रहता।
कितनी विह्वलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।
बचकर हाय! पतंग मरे क्या?
प्रणय छोड़ कर प्राण धरे क्या?
जला नहीं तो मरा करे क्या?
क्या यह असफलता है!
दोनों ओर प्रेम पलता है।

कहता है पतंग मन मारे—
'तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे,
क्या न मरण भी हाथ हमारे ?
शरण किसे छलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है ?

काली काली कोइल बोली ।
होली——होली——होली !

हँसकर लाल लाल होंठों पर—हरियाली हिल डोली ।
फूटा यौवन, फाड़ प्रकृति की पीली पीली चोली ।
होली—होली—होली !
अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अखियाँ खोलीं ।
मल दी ऊषा ने अंबर में दिन के मुख पर रोली ।
होली —होली—होली !
रागी फूलों ने पराग से भर ली अपनी झोली ।
और ओस ने केसर उनके स्फुट-संपुट में घोली ।
होली—होली—होली !
ऋतु ने रवि शशि के पलड़ों पर तुल्य प्रकृति निज तोली ।
सिहर उठी सहसा क्यों मेरी भुवन—भावना—भोली ।
होली—होली—होली ।
गूंज उठी खिलती कलियों पर उड़ अलियों की टोली ।
प्रिय की श्वास-सुरभि दक्षिण से आती है अनमोली ।
होली—होली—होली !

सूर्य्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

जन्म संवत्—१९५३

वह सचमुच निराला है। उसकी भाषा और भाव किसी का अंकुश नहीं मानते। उसका जीवन उन्मुक्तता का चलता फिरता उदाहरण है और उसकी कविता भी उसी प्रकार सजीव है। उसका ईश्वर शुष्क और ज्ञानमय है और वही उसके रहस्यवाद का स्वरूप है। उसकी दुनिया का निर्माण भावों की अधिकता से नहीं चिंतन का परिणाम है। उसकी आवाज़ उसी की आत्मा की ध्वनि है उसमें किसी प्रकार का मेल नहीं, बनावट नहीं। वह शंकर की तरह दृढ़ और प्रलयकारी है।

वह ताल ठोंक कर साहित्य के अखाड़े में उतरा है। अभी तक उसे पछाड़ने वाला पहलवान नहीं दिखाई देता।

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय शृंग,
और मैं चंचल-गति सुर सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास
और मैं कांत-कामिनी कविता।
तुम प्रेम और मैं शांति।
तुम सुरापान घन-अंधकार
मैं हूँ मतवाली भ्रांति

तुम दिनकर के खर-किरण जाल,
मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग,
मैं हूँ पिछली पहचान।
तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।
तुम मृदु मानस के भाव
और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नंदन-वन-घन-विटप,
और मैं सुख-शीतल-तल शाखा।
तुम प्राण और मैं काया
तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म
मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कंठ-हार,
मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार,
मैं व्याकुल विरह-रागिनी।
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं इन अधरों की वेणु।
तुम पथिक दूर के श्रांत
और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तर,
पार जाने की मैं अभिलाषा।

तुम नभ हो मैं नीलिमा,
तुम शरत्-काल के बाल इंदु,
मैं हूँ निशीथ मधुरिमा !
तुम गंध-कुसुम कोमल पराग,
मैं मृदुगति मलय-समीर ।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त-पुरुष,
मैं प्रकृति—प्रेम—जंजीर ।
तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति
तुम रघुकुल-गौरव रामचंद्र;
मैं सीता अचला भक्ति ॥
तुम रण-तांडव-उन्माद-नृत्य,
मैं युवति-मधुर-नूपुर-ध्वनि ।
तुम नाद-वेद ओंकार सार,
मैं कवि शृंगार-शिरोमणि ।
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुंद-इंदु-अरविंद शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ।

क्या गाऊँ

क्या गाऊँ ?—माँ ! क्या गाऊँ ?
गूञ्ज रही हैं जहाँ राग-रागिनियाँ
गाती हैं किन्नरियाँ कितनी परियाँ,
कितनी पंचदशी कामिनियाँ,
वहाँ एक यह ले कर वीणा दीन,
तंत्री क्षीण,—नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन,

रुद्ध-कंठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ ?
माँ !—क्या गाऊँ ?
छाया है मंदिर में तेरे यह कितना अनुराग !
चढ़ते हैं चरणों पर कितने फूल
मृदु-दल सरस-पराग,
गंध-मोद-मद पीकर मंद समीर
शिथिल चरण जब कभी बढ़ाती आती,
सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर-मंजीर,
वहाँ एक निर्गंध-कुसुम उपहार !
नहीं कहीं जिसके पराग-संचार-सुरभित-परिवार ॥
कैसे भला चढ़ाऊँ ?
माँ ! क्या गाऊँ ?

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार !
समर में अमर कर प्राण,
गान गाए महासिंधु से
सिंधु-नद तीर-वासी !—
सैंधव तुरंगों पर
चतुरंग चमू-संग;
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविंदसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"

किसने सुनाया यह
वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम राग,
फाग का खेला रण
बारहों महीनों में ?—
शेरों की माँद में
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार !
सत् श्री अकाल,
भाल-अनल-धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल—
तीनों गुण—ताप त्रय,
अभय हो गये थे तुम
मृत्युंजय व्योमकेश के समान,
अमृत-संतान ! तीव्र
भेदकर सप्तावरण-मरण लोक,
शोकहारी ! पहुँचे थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्रार—
जागो फिर एक बार !
सिंह की गोद से
छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेषमाता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—

छिनती संतान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है:—
किंतु क्या,
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है—
स्मरण करो बार बार—
जागो फिर एक बार ।
पशु नहीं, वीर तुम
समर-शूर, क्रूर नहीं,
काल-चक्र में हो दबे
आज तुम राज-कुँवर !—समर-सरताज !
पर, क्या है
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बंध छंद ज्यों,
डूबे आनंद में सच्चिदानंद-रूप ।
महामंत्र ऋषियों का
अणुओं परमाणुओं में फूँका हुआ—
"तुम हो महान, तुम सदा हो महान,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार—"
जागो फिर एक बार !

सुमित्रानंदन पंत

जन्म सम्वत्—१९५८

हिंदी की खड़ी बोली में काव्य-जन्य मृदुता लाने वाला वह आदि कवि है। भारती ने उसे वरदान स्वरूप कोमल-कांत-पदावली का शुभ आशीर्वाद दिया है। वह केवल नूतन और अनुपम कल्पना का ही कवि नहीं—उसमें जीवन के सुख-दुख का भी गुंजन है। वह युग के साथ चलने वाला गायक है। उन्मुक्त रूप से उसने प्रगतिशील कविता की सृष्टि की है। अपने नक्षत्रलोक से वह ज्योत्स्ना की अनेक किरणें पृथ्वी पर भेजने में समर्थ हुआ है।

हिंदी पर उसका एक बड़ा ऋण है। अनेक युवक कवियों का वह पथ-प्रदर्शक है। वह छायावादी युग का महान कवि है। प्रकृति के आकर्षक परिवर्तनशील रूप को अनेक रंगों में जितना वह चित्रित कर सका है उतना सही रूप किसी दूसरे की कूची अंकित नहीं कर सकी। उसकी कविता प्रेम और श्रेय का अद्भुत भरत-मिलाप है।

छाया

कौन, कौन तुम परिहत-वसना,
म्लान-मना, भू-पतिता सी,
वात-हता विच्छिन्न लता सी,
रति-श्रान्ता व्रज-वनिता सी ?

नियति-वंचिता, आश्रय-रहिता,
जर्जरिता, पददलिता सी,
धूलि-धूसरित मुक्त-कुन्तला,
किसके चरणों की दासी ?

कहो कौन हो दमयंती सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या,
अलि ! नल सा निष्ठुर कोई ?

पीले पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी,
बिजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन, दुख-विधुरा सी ?

गूढ़ कल्पना सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय सी,
बच्चों के तुतले भय सी ?

आशा के नव इन्द्रजाल सी,
सजनि ! नियति सी अन्तर्धान,
कहो कौन तुम तरु के नीचे;
भावी सी हो छिपी अजान ?

चिर अतीत की विस्मृत स्मृति सी
नीरवता की सी झंकार,
आँखमिचौनी सी असीम की,
निर्जनता की सी उद्गार ?

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि ! यवनिका हो सुकुमार

उस अभेद्य पट के भीतर है,
किस विचित्रता का संसार ?
निर्जनता के मानस पट पर
—बार बार भर ठंडी साँस—
क्या तुम छिपकर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?
सखि भिखारिणी सी तुम पथ पर
फैला कर अपना अंचल,
सूखे पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?
पत्रों के अस्फुट अधरों से
संचित कर सुख-दुख के गान,
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी
इच्छाएँ सब अल्प, महान ?
कभी लोभ सी लंबी होकर,
कभी तृप्ति सी होकर पीन,
तुम संसृति की अचिर-भूति या
सजनि, नापती हो स्थिति-हीन ।
कालानिल की कुंचित गति से
बार बार कंपित होकर,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों में निर्भर
किस अतीत का करुण चित्र तुम
खींच रही हो कोमलतर,
भग्न-भावना, विजन वेदना
विफल लालसाओं से भर

ऐ अवाक् निर्जन की भारति !
कंपित अधरों से अनजान
मर्म-मधुर किस सुर में गाती
तुम अरण्य के चिर आख्यान ?
ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि !
यह छाया-तन, छाया-लोक,
मुझको भी दे दो मायाविनि !
उर की आँखों का आलोक !
थके चरण-चिह्नों को अपनी
नीरव उत्सुकता से भर,
दिखा रही हो क्या तुम जग को
पर सेवा का मार्ग अमर ?
श्रमित तपित अवलोक पथिक को
रहती या यों दीन, मलीन ?
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि !
विश्व-वेदना है तल्लीन।
दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
बढ़कर नित तरुवर के संग
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढक कर अपने कोमल अंग ;
सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार
पर-सेवा-रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ-श्रांति अपार।
हे सखि ! इस पावन अंचल से
मुझ को भी निज मुख ढँक कर

अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षण भर !

चूर्ण शिथिलता सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
परपीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मदहीन ।

गाओ गाओ, विहग-बालिके !
तरुवर के मृदु मंगल गान,
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान ।

—हाँ, सखि, आओ, बाँह खोल हम
लग कर गले जुड़ा लें प्राण ?
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्धान ।

अप्सरा

निखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि ! अखिल विस्मयाकार !
अकथ, अलौकिक, अमर, अगोचर भावों की आधार !
गूढ़ निरर्थ असंभव, अस्फुट भेदों की शृंगार !
मोहिनि, कुहकिनि, छल-विभ्रममयि, चित्र विचित्र अपार !

शैशव की तुम परिचित सहचरि जग से चिर अनजान !
नवशिशु के संग छिप छिप रहती तुम, माँ का अनुमान !
डाल अँगूठा शिशु के मुँह में देती मधु स्तन दान !
छिपी थपक से उसे सुलातीं, गा गा नीरव गान !

तंद्रा के छाया-पथ से आ शिशु-उर में सविलास !
अधरों से अस्फुट मुकुलों में रँगती स्वप्निल हास !
दंतकथाओं से अबोध शिशु सुन विचित्र इतिहास !
नव नयनों में नित्य तुम्हारा रचते रूपाभास !

प्रथम रूप-मदिरा से उन्मद यौवन में उद्दाम !
प्रेयसि के प्रत्यंग अंग से लिपटीं तुम अभिराम !
युवती के उर में रहस्य बन, हरतीं मन प्रतियाम !
मृदुल पुलक मुकुलों से लदकर देहलता छविधाम !

इंद्र-लोक में पुलक नृत्य तुम करतीं लघुपद-भार !
तड़ित चकित चितवन से चंचल कर सुर-सभा अपार !
नग्न देह में नव रँग सुरधनु छायापट सुकुमार,
खोंस नील नभ की वेणी में इंदु कुंद द्युति स्फार।

स्वर्गंगा में जल-विहार तुम करतीं, बाहु मृणाल !
पकड़ पैरते इंदु बिंब के शत शत रजत मराल;
उड़ उड़ नभ में शुभ्र फेन कण बन जाते उडुबाल,
सजल देहद्युति चल लहरों में बिंबित सरसिज माल।

रवि-छवि-चुम्बित चल जलदों पर तुम नभ में, उस पार,
लगा अंक से तड़ित भीत शशि—मृगशिशु को सुकुमार,
छोड़ गगन में चंचल उडुगण चरण चिह्न लघुभार,
नागदंत नत इंद्रधनुष पुल करती ही नित पार।

कभी स्वर्ग की थीं तुम अप्सरि, अब वसुधा की बाल,
जग के शैशव के विस्मय से अपलक पलक प्रवाल !
बालयुवतियों की सरसी में चुगा मनोज्ञ मराल,
सिखलातीं मृदु रोमहास तुम चितवन कला अराल।

तुम्हें खोजते छाया-वन में अब भी कवि विख्यात,
जब जग जग निशि प्रहरी जुगनू सो जाते चिर प्रात,
सिहर लहर, मर्मर कर तरुवर तपक तड़ित अज्ञात,
अब भी चुपके इंगित देते गूँज मधुप, कवि भ्रात।

गौरश्याम तन, बैठ प्रभा तम, भगिनी भ्रात सजात,
बुनते मृदुल मसृण छायांचल तुम्हें तन्वि! दिनरात।
स्वर्ण-सूत्र में रजत हिलोरें कंचु काढ़तीं प्रात,
सुरँग रेशमी पंख तितलियाँ डुला सिरातीं गात।

तुहिनबिंदु में इन्दुरश्मि सी सोई तुम चुपचाप,
मुकुल शयन में स्वप्न देखती निज निरुपम छवि आप;
चटुल लहरियों से चल चुम्बित मलय मृदुल पदचाप,
जलजों में निद्रित मधुपों से करतीं मौनालाप।

नील रेशमी तम का कोमल खोल लोल कच भार,
तार तरल लहरा लहरांचल स्वप्न-विकच स्तन हार;
शशि-कर सी लघु पद, सरसी में करतीं तुम अभिसार,
दुग्ध फेन शारद ज्योत्स्ना में ज्योत्स्ना सी सुकुमार।

मेंहदीयुत मृदु करतल छवि से कुसुमित सुभग, सिंगार,
गौर देहद्युति हिम-शिखरों पर बरस रही साभार;
पद-लालिमा उषा, पुलकित पर शशि-स्मित घन सोभार;
उडु-कंपन मृदु मृदु उर-स्पंदन, चपल वीचि पद चार।

शतभावों के विकच दलों से मंडित, एक प्रभात
खिलीं प्रथम सौंदर्य पद्म सी तुम जग में नवजात;
भृंगों से अगणित रवि, शशि, ग्रह गूँज उठे अज्ञात,
जगज्जलधि हिल्लोल-विलोड़ित, गंध-अंध दिशि वात।

जगती के अनिमिष पलकों पर स्वर्णिम स्वप्न समान,
उदित हुई थीं तुम अनंत यौवन में चिर अम्लान;
चंचल अंचल में फहरा कर भावी स्वर्ण-विहान,
स्मित आनन में नव प्रकाश से दीपित नव दिनमान।

सखि! मानस के स्वर्गवास में चिर सुख में आसीन,
अपनी ही सुखमा में अनुपम, इच्छा में स्वाधीन,
प्रतियुग में आती हो रंगिणि! रच रच रूप नवीन,
तुम सुर नर-मुनि-ईप्सित अप्सरि! त्रिभुवन भर में लीन।

अंग अंग अभिनव शोभा का नव वसंत सुकुमार,
भृकुटि भंग नव नव इच्छा के भृंगों का गुंजार;
शत शत मधु आकांक्षाओं से स्पंदित पृथु उर भार,
नव आशा के मृदु मुकुलों से चुम्बित लघु पदचार।

निखिल विश्व ने निज गौरव महिमा, सुखमा कर दान,
निज अपलक उर के स्वप्नों से प्रतिमा कर निर्माण,
पल पल का विस्मय, दिशि दिशि की प्रतिमा कर परिधान,
तुम्हें कल्पना औ, रहस्य में छिपा दिया अनजान।

जग के सुख दुख, पाप, ताप, तृष्णा ज्वाला से हीन;
जरा-जन्म-भय-मरण-शून्य, यौवनमयि, नित्य नवीन;
अतल विश्व-शोभा-वारिधि में, मज्जित जीवन मीन,
तुम अदृश्य, अस्पृश्य अप्सरी, निज सुख में तल्लीन।

अल्मोड़े का वसंत

विद्रुम औ' मरकत की छाया,
सोने चाँदी का सूर्यातप;
हिम-परिमल की रेशमी वायु,
शत रत्नछाय, खग-चित्रित नभ !

पतझड़ के कृश, पीले तन पर
पल्लवित तरुण लावण्य लोक,
शीतल हरीतिमा की ज्वाला
फैली दिशि-दिशि-कोमलाऽलोक

आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
नव स्वर्ग सद्य सौन्दर्य सृष्टि,
मंजरित प्रकृति,मुकुलित दिगंत
कूजन गुंजन की व्योम वृष्टि !

—लो,चित्रशलभ सी,पंख खोल
उड़ने को है कुसुमित घाटी—
यह है अल्मोड़े का बसंत,
खिल पड़ी निखिल पर्वत पाटी !

राष्ट्र-गान

जन भारत हे !
भारत हे !
स्वर्ग स्तंभवत्—गौरव मस्तक
उन्नत हिमवत् हे,

जन भारत है,
जाग्रत भारत है !

गगनचुम्बि विजयी तिरंगध्वज
इन्द्र-चापमत् है,
कोटि कटि हम श्रमजीवी-सुत
संश्रम-युत नत है,
सर्व एक मत; एक ध्येय रत
सर्व-श्रेय-व्रत है,
जन भारत है,
जाग्रत भारत है !

समुच्चरित शत शत कंठों से
जनयुग स्वागत है,
सिंधु-तरंगित, मलय-श्वसित,
गंगाजल-ऊर्मि-निरत है,
शरदइंदु-स्मित अभिनंदनहित
प्रतिध्वनित पर्वत है,
स्वागत है स्वागत है,
जन भारत है,
जाग्रत भारत है !

स्वर्ग-खंड षड् ऋतु परिक्रमित,
आम्र-मंजरित, मधुप-गुंजरित,
कुसुमित फल द्रुम पिक-कल-कूजित
उर्वर; अभिमत है,
दश दिशि हरित शस्य श्री-हर्षित,
पुलक राशिवत् है,

जन भारत है,
जाग्रत भारत है !

जाति धर्म मत, वर्ग श्रेणिशत,
नीति रीति गत है,
मानवता में सकल समागत
जन मन परिणत है,
अहिंसास्त्र जन का मनुजोचित
चिर अप्रतिहत है,
बलके विमुख, सत्य के सन्मुख
हम श्रद्धानत है,
जन भारत है,
जाग्रत भारत है,

किरण केलिरत-रक्त विजय-ध्वज
युग प्रभातमत् है,
कीर्तिस्तम्भवत् उन्नत मस्तक
प्रहरी हिमवत् है,
पद्तल छू शत फेनिलोर्मि फन
शेषोदधि नत है,
वर्गमुक्त हम श्रमिक कृषक जन
चिर-शरणागत है,
जाग्रत भारत है,

रामधारी सिंह 'दिनकर'

जन्म सम्वत् १९६५

अपने युग की माँग को सामने प्रस्तुत करने वाले कवियों का वह नेता है। उसकी वाणी में शक्ति है और विचारों में हृदय को उथल-पुथल कर डालने वाला प्रवाह। उसके भावों की उत्ताल तरंग दरिद्रता, असहायता और पर-वशता को रौंद कर आगे बढ़ना चाहती है। संसार भले ही उन्हें 'विपथगा' कहे परन्तु वह पीछे न हटकर हिमालय की तरह दृढ़ है। उसमें कोमलता है, परन्तु कर्तव्य के आवाहन की कठोरता को साथ लिए, उसका हृदय वसंत को देखकर मचलता है परन्तु भारत के खेत में ऋतुराज को देखकर उसकी हृदयाग्नि भभक उठती है। वह राजप्रासादों की अवहेलना कर किसानों के खलियानों में अधिक आनन्द पाता है। उसकी व्यंजना और भावों में अद्भुत सामंजस्य है।

वह और उसका साहित्य सच्चे माने में 'प्रगतिशील' है।

अयि कल्पने !

व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने !
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं।
उड़ न सकते हम तुम्हारे स्वप्न तक,
शक्ति है तो आ, बसा अलका यहीं।

फूल से सज्जित तुम्हारे अंग हैं,
और हीरक-ओस का शृंगार है।
धूल में तरुणी-तरुण हम रो रहे,
वेदना का शीश पर गुरु भार है।

अरुण की चिर ज्योति तेरे देश में,
है सुना, उसकी अमिट मुसकान है।
टकटकी मेरी क्षितिज पर है लगी,
निशि गई, हँसता न स्वर्ण-विहान है।
व्योम-कुंजों की सखी, अयि कल्पने!
आ उतर, हँस ले जरा वनफूल में।
रेणुके! हँसने लगे जुगनू, चलो,
आज कूकें खंडहरों की धूल में।

विपथगा

झन-झन-झन-झन-झन-झनन झनन—
मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुँकारों में
मैं अहंकार सी कड़क ठठा हँसती विद्युत की धारों में
बन काल हुताशन खेल रही पगली मैं फूट पहाड़ों में
अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।
मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट वसु-काल-सर्पिणी के शत फन,
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चंदन,
आँजा करती हूँ चिता-धूम का दृगमें अंध-तिमिर-अंजन,
संहार-लपट-का चीर पहन नाचा करती मैं छूम छनन।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।
पायल की पहली झमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है।
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है।

लहराती लपट दिशाओं में खलभल खगोल अकुलाता है
परकटे विहग सा निरवलंब गिर स्वर्ग-नरक जल जाता है
गिरते दहाड़ कर शैल-शृंग मैं जिधर फेरती हूँ चितवन।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।
रस्सों से कसे जवान पाप-प्रतिकार न जब कर पाते हैं।
बहिनों की लुटती लाज देखकर काँप काँप रह जाते हैं।
शस्त्रों के भय से जब निरस्त्र आँसू भी नहीं बहाते हैं।
पी अपमानों के गरल घूँट शासित जब होंठ चबाते हैं।
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरी वह भीषण जन्म-लगन।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।
पौरुष की बेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है।
ले जगदीश्वर का नाम खड्ग कोई दिल्लीश्वर धोता है।
धन के विलास का बोझ दुखी, दुर्बल, दरिद्र जब ढोता है।
दुनियाँ को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है।
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।
वैभव के बल से जब समाज के पाप-पुण्य बन जाते हैं।
धनहीन पुण्य को स्पृश्य नहीं ईश्वर भी जब कर पाते हैं।
दुर्जय मानव को शास्त्र देव चरणों की धूल बताते हैं।
पाखंड, पाप, व्यभिचार, धर्म से पुष्टि पेय जब पाते हैं।
तब उड़ती-कोप कृशानु लिये तीरों सी मेरी वह्नि-किरण।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।
श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।

मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

डरपोक हुकूमत जुल्मों से लोहा जब नहीं बजाती है।
हिम्मतवाले कुछ कहते हैं, तब जीभ तराशी जाती है।
उलटी चालें ये देख देश में हैरत सी छा जाती है।
मिट्टी की ओदी आँच छिपी तब और अधिक धुँधुआती है।
सहसा चिंगघार खड़ी होती दुर्गा मैं करने दरयु दलन।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

चढ़कर जनून सी चलती हूँ मृत्युंजय वीर कुमारों पर।
आतंक फैल जाता कानूनी पार्लमेण्ट, सरकारों पर।
'नीरो' के जाते प्राण सूख मेरे कठोर हुँकारों पर।
कर अट्टहास इठलाती हूँ—ज़ारों के हाहाकारों पर।
झंझा सी पकड़ झकोर हिला देती दंभी के सिंहासन।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

मैं निस्तेजों का तेज, युगों के मूक मौन की बानी हूँ।
दिलजले शासितों के दिल की मैं जलती हुई कहानी हूँ।
सदियों की जब्ती तोड़ जगी मैं उस ज्वाला की रानी हूँ।
मैं जहर उगलती फिरती हूँ, मैं विष से भरी जवानी हूँ।
भूखी बाघिन की घात क्रूर, आहत भुजंगिनि का दंशन,
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

जब हुई हुकूमत आँखों पर, जनमी चुपके मैं आहों में।
कोड़ों की खाकर मार पली, पीड़ित की दबी कराहों में।
सोने सी निखर जवान हुई तप कड़ी दमन की दाहों में।
ले जान हथेली पर निकली मैं मर-मिटने की चाहों में।

मेरे चरणों में खोज रहे भय-कंपित तीनों लोक शरण।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।
असि की नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ।
ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ।
थर थर करते कानून, न्याय, इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ।
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ।
सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।
मुझ विपथिगामिनी को न ज्ञात किस रोज किधर से आऊँगी।
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अंबर में आग लगाऊँगी।
आँखें अपनी कर बंद देश में जब भूकंप मचाऊँगी।
किसका टूटेगा शृंग, न जाने, किसका महल गिराऊँगी।
निर्बंध, क्रूर, निर्मोह सदा, मेरा कराल नर्तन, गर्जन।
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।
अब की अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार! सजग,
बैठे 'विसूवियस' के मुख पर, भोले अबोध संसार! सजग,
रेशों का रक्त कृशानु हुआ, ओ जुल्मी की तलवार! सजग,
दुनिया के 'नीरो' सावधान! दुनिया के पापी जार! सजग,
जाने, किस दिन फुँकार उठें पद-दलित काल सर्पों के फन
झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

हिमालय

मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार, दिव्य, गौरव विराट
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल

मेरी जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बंध, मुक्त,
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान्
निस्सीम व्योम में तान रहे
युग से किस महिमा का वितान
कैसी अखंड यह चिर-समाधि
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान
उलझन का कैसा विषम जाल
—मेरे नगपति ! मेरे विशाल।

ओ, मौन तपस्या-लीन यती
पल भर तो कर दृगोन्मेष
रे ! ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश !
सुखसिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्य-भूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार
जिसके द्वारों पर खड़े क्रांत
सीमापति ! तू ने की पुकार
"पददलित इसे करना पीछे
पहिले ले मेरा सिर उतार॥

उस पुण्य भूमि पर आज तपी
रे आन पड़ा संकट कराल
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
दारुण दुख ज्वाला में बेहाल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल

कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश
कितनी द्रुपदा के बाल खुले
कितनी कलियों का अंत हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-बसन्त हुआ
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ
वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से, राम कहाँ
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चंद्रगुप्त बलधाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनंत-निधियाँ सारी

री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मंगल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
तू तरुण देश से पूछ अरे
गूँजा यह कैसा ध्वंस-राग ?
अंबुधि-अंतस्तल-बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?
प्राची के प्रांगण-बीच देख
जल रहा स्वर्णयुग-अग्निज्वाल।
तू सिंहनाद कर जाग यती !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल।
रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हरबम' का फिर महोच्चार !
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद !

तू शैलराट् ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद ।
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी ! आज तप का न काल ।
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग मेरे विशाल !
मेरे जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागो नग-पति ! जागो विशाल !

खोज करता हूँ उसी आधार की

फूँक दे जो प्राण में उत्तेजना
गुण न वह इस बाँसुरी की तान में
जो चकित करके कँपा डाले हृदय
वह कला पाई न मैंने गान में
जिस व्यथा से रो रहा आकाश यह
ओस के आँसू बहाकर फूल में
ढूँढती उसकी दवा मेरी कला
विश्व-वैभव की चिता की धूल में
कूकती असहाय मेरी कल्पना
कब्र में सोए हुओं के ध्यान में
खँडहरों में बैठ भरती सिसकियाँ
विरहिणी कविता सदा सुनसान में
देख क्षण-क्षण में सहमता हूँ अरे
व्यापिनी क्षणभंगुता संसार की
एक पल ठहरे जहाँ जग हो अभय
खोज करता हूँ उसी आधार की

सुभद्राकुमारी चौहान

जन्म सम्वत्—१९६१

माता की ममता और राजपूतनी की उत्तेजना उसकी कविता की विशेषताएँ हैं। वह भारत में जागृत नारीत्व की प्रतिनिधि है। उसके शब्दों में प्रोत्साहन है, और है नव-युवकों को देश पर मर मिटने के लिए मिलने वाली प्रेरणा। वह लिखकर प्रकट करने की अपेक्षा भावों को अंतस्थ कर उन में आनन्द-प्राप्ति की अधिक आकांक्षिणी है।

———

ठुकरा दो या प्यार करो

देव ! तुम्हारे कई उपासक
कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे
कई रंग से लाते हैं॥

धूमधाम से साज-बाज से
मंदिर में वे आते हैं।
मुक्तामणि बहुमूल्य वस्तुएँ
लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं॥

मैं ही हूँ गरीबिनी ऐसी
जो कुछ साथ नहीं लाई।
फिर भी साहस कर मंदिर में
पूजा करने को आई॥

धूप-दीप-नैवेद्य नहीं हैं
झाँकी का शृंगार नहीं ।
हाय ! गले में पहनाने को
फूलों का भी हार नहीं ॥

मैं कैसे स्तुति करूँ तुम्हारी,
है स्वर में माधुर्य नहीं ।
मन का भाव प्रकट करने को
वाणी में चातुर्य नहीं ॥

नहीं दान है, नहीं दक्षिणा
खाली हाथ चली आई ।
पूजा की विधि नहीं जानती
फिर भी नाथ ! चली आई ॥

पूजा और पुजापा प्रभुवर !
इसी पुजारिन को समझो ।
दान-दक्षिणा और निछावर
इसी भिखारिन को समझो ॥

मैं उन्मत्त, प्रेम का लोभी
हृदय दिखाने आई हूँ ।
जो कुछ है, बस यही पास है,
इसे चढ़ाने आई हूँ ॥

चरणों में अर्पित है, इसको
चाहो तो स्वीकार करो ।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है,
ठुकरा दो या प्यार करो ॥

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटि तानी थी,
बूढे भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सब ने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सब ने मन में ठानी थी,

चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

कानपूर के नाना की मुँहबोली बहिन 'छबीली' थी,
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह संतान अकेली थी,
नाना के सँग पढ़ती थी वह नाना के सँग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण कटारी उसकी यही सहेली थी,

वीर शिवाजी की गाथाएँ उसको याद ज़बानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसके तलवारों के वार,
नकली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,

महाराष्ट्र-कुल-देवी उसकी भी आराध्य भवानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में,

राजमहल में बजी बधाई, खुशियाँ छाईं झाँसी में,
सुभट बुंदेलों की विरुदावलि सी वह आई झाँसी में,

चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव से मिली भवानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

उदित हुआ सौभाग्य! मुदित महलों में उजियाली छाई,
किंतु काल-गति चुपके चुपके काली घटा घेर लाई,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाईं,
रानी विधवा हुई हाय! विधि को भी नहीं दया आई,

निःसन्तान मरे राजा जी रानी शोक समानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अवसर अच्छा पाया,
फ़ौरन फ़ौजें भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया;
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश-राज्य झाँसी आया,

अश्रु-पूर्ण रानी ने देखा झाँसी हुई बिरानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

अनुनय विनय नहीं सुनता है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था यह जब भारत आया,
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया,

रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महारानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

छिनी राजधानी देहली की लखनऊ छीना बातों-बात,
कैद पेशवा था बिठूर में, हुआ नागपुर का भी घात,
उदैपूर, तंजौर, सतारा, कर्नाटक की कौन बिसात,
जब कि सिंध, पंजाब, ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात,

बंगाले, मद्रास आदि की भी तो वही कहानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

रानी रोई रनिवासों में, बेगम गम से थी बेजार;
उनके गहने कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाजार,
सरे-आम नीलाम छापते थे अंग्रेजों के अखबार,
'नागपूर के जेवर ले लो,' 'लखनऊ के लो नौलख हार,'

यों परदे की इज़्ज़त परदेशी के हाथ बिकानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

कुटियों में थी विषम वेदना, महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरुखों का अभिमान,
नाना धुंधूपंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहिन छबीली ने रणचंडी का कर दिया प्रकट आह्वान,

हुआ यज्ञ प्रारंभ, उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥

महलों ने दी आग, झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
वह स्वतंत्रता की चिनगारी अंतरतम से आई थी,
झांसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाईं थीं,
मेरठ, कानपूर, पटना ने भारी धूम मचाई थी,

जबलपूर, कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥

इस स्वतंत्रता-महायज्ञ में कई वीरवर आए काम,
नाना धुंधूपंत, तांतिया, चतुर अजीमुल्ला सरनाम,
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिराम,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम,

लेकिन आज जुर्म कहलाती उनकी जो कुर्बानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥

इनकी गाथा छोड़, चलें हम झांसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेंट वौकर आ पहुँचा, आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वंद्व असमानों में;

जख्मी होकर वौकर भागा उसे अजब हैरानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥

रानी बढ़ी कालपी आई कर सौ मील निरंतर पार,
घोड़ा थक कर गिरा भूमि पर गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना-तट पर अंग्रेजों ने फिर खाई रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी किया ग्वालियर पर अधिकार,

अंग्रेजों के मित्र सेंधिया ने छोड़ी रजधानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥

विजय मिली, पर अंग्रेजों की फिर सेना घिर आई थी,
अब के जरनल स्मिथ सम्मुख था उसने मुँह की खाई थी,
काना और मंदिरा सखियां रानी के संग आई थीं,
युद्ध-क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचाई थी,

पर, पीछे ह्यूरोज आ गया, हाय घिरी अब रानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥

तो भी रानी मार-काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था; इतने में आ गए सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार,

घायल होकर गिरी सिंहनी उसे वीर गति पानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥

रानी गई सिधार! चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतंत्रता नारी थी,

दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥

जाओ रानी याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतंत्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सचाई को चाहे फांसी,
हो मदमाती विजय मिटा दे गोलों से चाहे झांसी,

तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥

बालिका का परिचय

यह मेरी गोदी की शोभा, सुख-सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है, मनो-कामना मतवाली॥
दीप-शिखा है अन्धकार की, घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल-भृंग की, है पतझड़ की हरियाली॥

सुधाधार यह नीरस दिल की, मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवित ज्योति नष्ट नयनों की, सच्ची लगन मनस्वी की॥
बीते हुए बालपन की यह, क्रीड़ा पूर्ण वाटिका है।
वही मचलना, वही किलकना, हँसती हुई नाटिका है॥

मेरा मंदिर, मेरी मसजिद, काबा-काशी यह मेरी।
पूजा-पाठ, ध्यान-जप-तप है, घट-घट-वासी यह मेरी।
कृष्णचन्द्र की क्रीड़ाओं को, अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृमोद को, अपने ही मन में लेखो॥

प्रभु ईसा की क्षमाशीलता, नबी मुहम्मद का विश्वास।
जीव-दया जिनवर गौतम की, आओ देखो इसके पास॥
परिचय पूछ रहे हो मुझसे, कैसे परिचय दूँ इसका?
वही जान सकता है इसको, माता का दिल है जिसका॥

हरिवंश राय 'बच्चन'

जन्म सम्वत्—१९६४

वह स्वच्छन्द वायु की तरह उन्मुक्त नहीं। उसकी कविता के उपकरण संसार की परिधि में व्याप्त हैं। उसी की मस्ती में कभी वह मधुबाला का उत्फुल्ल गुलाबी मुख देखता है और कभी निशा-निमंत्रण में एकांत-संगीत का स्वर साधता है। उसकी सरल और सीधी भाषा उसके भावों के अनुकूल अपना प्रसार करती हुई आगे बढ़ती है—कभी केवल गायक के रूप में और कभी धुँधला सा दिखाई देने वाले टिमटिमाते दीपक के रूप में। उसके तन और मन में एक मस्ती है—अँगूरी सुरा के समान मादक, पर तीक्ष्ण नहीं।

लहरों का निमंत्रण

(१)

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण
रात का अंतिम प्रहर है,
झिलमिलाते हैं सितारे,
वक्ष पर युग बाहु बाँधे
मैं खड़ा सागर किनारे,
वेग से बहता प्रभंजन
केश-पट मेरे उड़ाता,

शून्य में भरता उदधि-
उर की रहस्यमयी पुकारें

इन पुकारों की प्रतिध्वनि
हो रही मेरे हृदय में,
है प्रतिच्छायित जहां पर
सिन्धु का हिल्लोल-कंपन
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण

(२)

विश्व की संपूर्ण पीड़ा
सम्मिलित हो रो रही है।
शुष्क पृथ्वी आँसुओं से
पाँव अपना धो रही है,

इस धरा पर जो बसी दुनिया
यही अनुरूप उसके——

इस व्यथा से हो न विचलित
नींद सुख की सो रही है;

क्यों धरणि अब तक न गल कर
लीन जलनिधि में गई हो ?
देखते क्यों नेत्र कवि के
भूमि पर जड़-तुल्य जीवन

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण !

(३)

जड़ जगत में वास कर भी
जड़ नहीं व्यवहार कवि का,
भावनाओं से विनिर्मित
और ही संसार कवि का,
बूँद के उच्छ्वास को भी
अनसुनी करता नहीं वह
किस तरह होता उपेक्षा-
पात्र पारावार कवि का !

विश्व-पीड़ा से सुपरिचित
हो तरल बनने, पिघलने
त्याग कर आया यहाँ कवि
स्वप्न लोकों के प्रलोभन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण !

(४)

जिस तरह मरु के हृदय में
है कहीं लहरा रहा सर,
जिस तरह पावस-पवन में
है पपीहे का छिपा स्वर,
जिस तरह से अश्रु-आहों से
भरी कवि की निशा में
नींद की परियाँ बनातीं
कल्पना का लोक सुखकर,

सिंधु के इस तीव्र हाहा-
कार ने, विश्वास मेरा,
है छिपा रक्खा कहीं पर
एक रस-परिपूर्ण गायन
तीर पर कैसे रुकूँ मैं;
आज लहरों में निमंत्रण !

(५)

नेत्र सहसा आज मेरे
तम-पटल के पार जाकर
देखते हैं रत्न-सीपी से
बना प्रासाद सुंदर
है खड़ी जिसमें उषा ले
दीप कुंचित रश्मियों का,
ज्योति में जिसकी सुनहली
सिंधु-कन्याएँ मनोहर
गूढ़ अर्थों से भरी मुद्रा
बना कर गान करतीं
और करतीं अति अलौकिक
ताल पर उन्मत्त नर्तन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(६)

मौन हो गंधर्व बैठे
कर श्रवण इस गान का स्वर
वाद्य-यंत्रों पर चलाते
हैं नहीं अब हाथ किन्नर

अप्सराओं के उठे जो
पग, उठे ही रह गए हैं,
कर्ण उत्सुक, नेत्र अपलक
साथ देवों के पुरंदर
एक अद्भुत और अविचल
चित्र-सा है जान पड़ता,
देव-बालाएँ विमानों से
रहीं कर पुष्प-वर्षण !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

(७)

दीर्घ उर में भी जलधि के
हैं नहीं खुशियाँ समातीं,
बोल सकता कुछ न, उठती
फूल बारंबार छाती।
हर्ष रत्नागार अपना
कुछ दिखा सकता जगत को,
भावनाओं से भरी यदि
यह फफक कर फूट जाती।
सिंधु जिस पर गर्व करता
और जिसकी अर्चना को
स्वर्ग झुकता, क्यों न उसके
प्रति करे कवि अर्घ्य-अर्पण,
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण।

(८)

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूँ,
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूँ,

चाहता हूँ तैर जाना
सामने अंबुधि पड़ा जो
कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ,

स्वर्ग के भी स्वप्न भू पर
देख उन से दूर ही था,
किंतु पाऊँगा नहीं कर
आज अपने पर नियंत्रण,
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(९)

लौट आया यदि वहाँ से
तो यहाँ नव युग लगेगा,
नव प्रभाती गान सुन कर
भाग्य जगती का जगेगा,

शुष्क जड़ता शीघ्र बदलेगी
सरल चैतन्यता में,
यदि न पाया लौट मुझको
लाभ जीवन का मिलेगा,

पर पहुँच ही यदि न पाया
व्यर्थ क्या प्रस्थान होगा ?
कर सकूँगा विश्व में फिर
भी नये पथ का प्रदर्शन,
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(१०)

स्थल गया है भर पथों से
नाम कितनों के गिनाऊँ;
स्थान बाकी है कहाँ, पथ
एक अपना ही बनाऊँ ?
विश्व तो चलता रहा है
थाम राह बनी बनाई,
किंतु इन पर किस तरह मैं
कवि-चरण अपने बढ़ाऊँ !
राह जल पर भी बनी है,
रूढ़ि, पर न हुई कभी वह,
एक तिनका भी बना सकता
यहाँ पर मार्ग नूतन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(११)

देखता हूँ आँख के आगे
नया यह क्या तमाशा
कर निकल कर दीर्घ जल से
हिल रहा करता मना-सा

है हथेली-मध्य चित्रित
नीर-मग्नप्राय बेड़ा !
मैं इसे पहचानता हूँ
है नहीं क्या यह निराशा ?
हो पड़ीं उद्दाम इतनी
उर-उमंगें, अब न उनको
रोक सकता भय निराशा का
न आशा का प्रवंचन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(१२)

पोत अगणित इन तरंगों ने
डुबाये, मानता मैं,
पार भी पहुँचे बहुत से-
बात यह भी जानता मैं,
किंतु होता सत्य यदि यह
भी, सभी जलयान डूबे
पार जाने की प्रतिज्ञा
आज बरबस ठानता मैं
डूबता मैं, किंतु उतराता
सदा व्यक्तित्व मेरा,
हों युवक डूबे भले ही
है कभी डूबा न यौवन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(१२)

आ रहीं प्राची क्षितिज से
खींचने वाली सदाएँ,
मानवों के भाग्य-निर्णायक
सितारो ! दो दुआएँ,
नाव, नाविक, फेर ले जा
है नहीं कुछ काम इसका,
आज लहरों से उलझने को
फड़कती हैं भुजाएँ,
प्राप्त हो उस पार भी इस
पार सा चाहे अँधेरा
प्राप्त हो युग की उषा
चाहे लुटाती नव-किरण-धन ;
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

मधुबाला

(१)

मैं मधुबाला मधुशाला की !
मैं मधुशाला की मधुबाला ;
मैं मधुविक्रेता की प्यारी,
मधु के घट मुझ पर बलिहारी
प्यालों की मैं सुखमा सारी,
मेरा रुख देखा करती है
मधु-प्यासे नयनों की माला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(२)

इस नीले आँचल की छाया
में जग ज्वाला का झुलसाया
आकर शीतल करता काया,
मधु-मरहम का मैं लेपन कर
अच्छा करती उर का छाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(३)

मधुघट ले जब करती नर्तन
मेरे नूपुर की छम-छनन
में लय होता जग का क्रन्दन,
भूमा करता मानव जीवन
का क्षण-क्षण बनकर मतवाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(४)

मैं इस आँगन की आकर्षण,
मधु से सिंचित मेरी चितवन,
मेरी वाणी में मधु के कण,
मदमत्त बनाया मैं करती,
यश लूटा करती मधुशाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(५)

था एक समय, थी मधुशाला,
था मिट्टी का घट, था प्याला,
थी किंतु नहीं साकीबाला,

था बैठा ठाला विक्रेता
दे बंद कपाटों पर ताला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(६)

तब इस घर में था तम छाया,
था भय छाया, था भ्रम छाया,
था मातम छाया, ग़म छाया,
ऊषा का दीप लिए सिर पर
मैं आई करती उजियाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(७)

सोने की मधुशाला चमकी,
माणिक-द्युति से मदिरा दमकी,
मधु-गंध दिशाओं में गमकी,
चल पड़ा लिये कर में प्याला
प्रत्येक सुरा पीनेवाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(८)

थे मदिरा के मृत-मूक घड़े,
थे मूर्ति-सदृश मधुपात्र खड़े,
थे जड़वत् प्याले भूमि पड़े,
जादू के हाथों से छू कर
मैंने इनमें जीवन डाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला ।

(९)

मुझको छू कर मधुघट छलके
प्याले मधु पीने को ललके,
मालिक जागा मल कर पलकें,
अँगड़ाई लेकर उठ बैठी
चिर-सुप्त, विमूर्छित मधुशाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(१०)

प्यासे आए, मैंने आँका,
वातायन से मैंने झाँका,
पीने वालों का दल बाँका ।
उत्कंठित स्वर से बोल उठा,
'कर दे पागल, भर दे प्याला' ।
मैं मधुशाला की मधुबाला ।

(११)

खुल द्वार गये मदिरालय के,
नारे लगते मेरी जय के,
मिट चिह्न गये चिंता-भय के,
हर ओर मचा है शोर यही,
'ला ला मदिरा, मदिरा ला ला ।'
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(१२)

हर एक तृप्ति का दास यहाँ,
पर एक बात है खास यहाँ,
पीने से बढ़ती प्यास यहाँ,

सौभाग्य मगर मेरा देखो,
देने से बढ़ती है हाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(१३)

चाहे जितनी मैं दूँ हाला,
चाहे जितने तू पी प्याला
चाहे जितना बन मतवाला,
सुन, भेद बताती हूँ अंतिम—
यह शांत नहीं होगी ज्वाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(१४)

मधु कौन यहाँ पीने आता,
है किसका प्यालों से नाता,
जग देख मुझे है मदमाता,
जिसके चिर-तंद्रिल नयनों पर
तनती मैं स्वप्नों का जाला ;
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(१५)

यह स्वप्न-विनिर्मित मधुशाला,
यह स्वप्न-रचित मधु का प्याला,
स्वप्निल तृष्णा, स्वप्निल हाला,
स्वप्नों की दुनिया में भूला
फिरता मानव भोला-भाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला !

———

भगवतीचरण वर्मा

जन्म सम्वत्—१९६०

विविध-प्रतिभा-संपन्न यह युवक पुराना गायक है। समाज की असंगठित अवस्था को देख कर उसके हृदय में धू धू करके एक आग जल रही है। शांति के क्षणों में वह यौवन के सुख-स्वप्न देखता है और प्रेम-संगीत के गीत गा कर रोमांस-भरी दुनिया की सृष्टि करता है। उसकी मधुर कल्पना रंगीन भावुकता से सराबोर होकर चमक उठती है।

वह जीवन के अनेक पहलुओं पर विचार कर किसी एक परिणाम पर पहुँचता है और उसके आधार पर अपनी कृति की रचना करता है। वह केवल कल्पना का नहीं, विचार-मंथन का भी कवि है।

एकाकी

(१)

मैं एकाकी हूँ मार्ग अगम,
है अंतहीन चलते जाना,
नभ में व्यापकता का संदेश,
क्षिति में सीमा से टकराना;
उजले दिन, काली रातों में,
लय हो जाते हैं हास-रुदन;
धुँधली बनकर इन आँखों ने
केवल सूनापन पहचाना।

है इस जीवन का बोझ असह,
मैं निर्बलता से चूर प्रिये !
उर शंकित है, पग डगमग हैं;
तुम मुझ से कितनी दूर प्रिये !

(२)

लेकर अक्षय विश्वास, अरे !
उस दिन जब पत्थर के दिल में
मैंने जागृति का पाठ पढ़ा
सोने वालों की महफिल में;
'भेदन करना है अंधकार'
तब पागल सा मैं बोल उठा;
कब सोचा था, डिग जाऊँगा
मैं बस पहिली ही मंजिल में ?
उस पार !—अरे उस पार कहाँ ?
है अन्तहीन इस पार प्रिये !
पैरों में ममता का बन्धन,
सिर पर वियोग का भार प्रिये !

(३)

अब असह, अबल अभिलाषा का
है सबल नियति से संघर्षण;
आगे बढ़ने का अमिट नियम,
पग पीछे पड़ते हैं प्रतिक्षण
पर यदि संभव ही हो सकता,
केवल पल भर पीछे, हटना—
तो बन जाता वरदान अमर,
यह सबल तुम्हारा आकर्षण !

मैं एक दया का पात्र अरे,
मैं नहीं रंच स्वाधीन प्रिये!
हो गया विवशता की गति में
बँध कर हूँ मैं गतिहीन प्रिये!

(४)

शशि एकाकी मिटता रहता,
रवि एकाकी जलता रहता,
हिम एकाकी गलता रहता;
कोयल एकाकी रो देती,
कलि एकाकी मुरझा जाती,
एकाकी पन में बनने का
मिटने का क्रम चलता रहता!
एकाकीपन ही अपनापन,
मैं अपने से मजबूर प्रिये!
उर शंकित है पग डगमग हैं,
तुम होती जाती दूर प्रिये!

भैंसा गाड़ी

(१)

'चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर'
जा रही चली भैंसा-गाड़ी!
गति के पागलपन से प्रेरित
चलती रहती संसृति महान;
सागर पर चलते हैं जहाज,
अम्बर पर चलते वायुयान,

भूतल के कोने-कोने में
रेलों-ट्रामों का जाल बिछा;
हैं दौड़ रहीं मोटरें-बसें
लेकर मानव का बृहत्-ज्ञान !
पर इस प्रदेश में जहाँ नहीं
उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहें;
वे भूखे, अधखाये किसान
भर रहे जहाँ सूनी आहें,
नंगे बच्चे चिथड़े पहने
मातायें जर्जर डोल रहीं
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही
धूल उड़ाती हैं राहें,
बीते युग की परछाहीं-सी,
बीते युग का इतिहास लिये,
'कल' के उन तंद्रिल सपनों में
'अब' का निर्दय उपहास लिये
गति में किन सदियों की जड़ता ?
मन में किस स्थिरता की ममता ?
अपनी जर्जर-सी छाती में
अपना जर्जर विश्वास लिये,
भर-भर कर फिर मिटने का स्वर
कँप कँप उठते जिसके स्तर-स्तर,
हिलती डुलती हँफती-काँपती
कुछ रुक-रुक कर, कुछ सिहर सिहर,
'चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर'
जा रही चली भैंसा-गाड़ी !

(२)

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों-से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर !

मैं कहता हूँ खँडहर उसको,
पर वे कहते हैं उसे ग्राम;
जिसमें भर देती निज धुँधलापन
असफलता की सुबह-शाम !

पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ,
नारियाँ जन रही हैं गुलाम;
पैदा होना, फिर मर जाना
यह है लोगों का एक काम !

था वहीं कटा दो दिन पहले
गेहूँ का छोटा एक खेत,

तुम सुख-सुषमा के लाल
तुम्हारा है विशाल वैभव-विवेक !
तुमने देखी हैं मान-भरी
उच्छृंखल सुंदरियाँ अनेक ।

तुम भरे-पुरे ! तुम हृष्ट-पुष्ट !
ऐ तुम समर्थ कर्ता-हर्ता !

तुमने देखा है क्या बोलो
हिलता-डुलता कंकाल एक ?

वह था उसका ही खेत जिसे
उसने उन पिछले चार-माह

अपने शोणित को सुखा-सुखा,
भर-भर कर अपनी विमुख आह,
तैयार किया था; औ घर में
थी रही रुग्ण पत्नी कराह !
उसके वे बच्चे तीन जिन्हें
माँ-बाप का मिला प्यार न था,
जो थे जीवन के व्यंग किंतु
मरने का भी अधिकार न था !
थे क्षुधा-ग्रस्त बिलबिला रहे
मानो वे मोरी के कीड़े,
वे निपट घिनौने, महापतित
बौने, कुरूप, टेढ़े-मेढ़े !
उसका कुटुम्ब था भरा-पुरा
आहों से, हाहाकारों से,
फाकों से लड़-लड़कर प्रतिदिन;
घुट-घुट कर अत्याचारों से
तैयार किया था उसने ही
अपना छोटा-सा एक खेत
बीबी-बच्चों से छीन, बीन
दाना-दाना अपने में मर,
भूखे तड़पें या मरें, भरों
का तो भरना है उसको घर !
धन की दानवता से पीड़ित,
कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर
'चरमर-चरमर-चूँ चरर-मरर'
जा रही चली भैंसा गाड़ी !

(३)

है बीस कोस पर एक नगर
उस एक नगर में एक हाट,
जिसमें मानव की दानवता
फैलाये है निज राज-पाट,
साहूकारों के परदे में
हैं जहाँ चोर औ गिरहकाट,
है अभिशापों से घिरा जहाँ
पशुता का व्यापक ठाठ-बाट !

उसमें चाँदी के टुकड़ों के
बदले में लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से
तो चलता है सब राज-काज
वह राज-काज जो सधा हुआ
है इन भूखे कंकालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी
है तिल-तिल मिटने वालों पर !

वे व्यापारी, वे जमींदार
जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदखोर
पीते मनुष्य का उष्ण रक्त !
इस राज-काज के वही स्तंभ,
उनकी पृथ्वी, उनका ही धन;
ये ऐश और आराम उन्हीं के
और उन्हीं के स्वर्ग-सदन !

उस बड़े नगर का राग-रंग
हँस रहा निरंतर पागल-सा
उस पागलपन से ही पीड़ित
कर रहे ग्राम अविकल क्रंदन !

चाँदी के टुकड़ों में विलास,
चाँदी के टुकड़ों में है बल;
इन चाँदी के ही टुकड़ों में
सब धर्म-कर्म सब चहल-पहल !
इन चाँदी के ही टुकड़ों में
है मानव का अस्तित्व विफल !

चाँदी के टुकड़ों को लेने
प्रतिदिन पिसकर, भूखों मरकर,
भैंसा गाड़ी पर लदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर !

है उसे चुकाना सूद-कर्ज़,
है उसे चुकाना अपना कर,
जितना खाली उसका अंतर !

नीचे जलने वाली पृथ्वी
ऊपर जलने बाला अंबर !
औ, कठिन भूख की जलन लिये
नर बैठा है बन कर पत्थर !
पीछे है पशुता का खँडहर,
दानवता का सामने नगर !
मानव का कृश कंकाल लिये
'चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर'
जा रही—चली भैंसा-गाड़ी !

सुमित्राकुमारी सिन्हा

कविता के क्षेत्र में नारी-हृदय करुणा और प्रेम की सहस्रमुखी धारा बन उमड़ा है। वह शरद्-ज्योत्स्ना के समान स्वच्छ और वसंत की तरह उन्माद-युक्त है। नूतन और पुरातन का अद्भुत संघर्ष उसकी रचना की विशेषता है। भावना-पूर्ण कविता से ओत-प्रोत उसका व्यक्तित्व आँखों में समाकर दिल में उतर आता है।

विहाग की वह अपूर्व गायिका है।

शेष रहा अब क्या करने को

रजकण को पाषाण बनाया
एक बूँद का सिंधु रचाया।
धर जड़ पत्थर भी उर पर जब,
कर सजीव उसको तड़पाया!

पलकों की लघु सीमा में जब विस्तृत निज आकाश छिपाया,
शून्य दिगंतों से अंतर के एक करुण चीत्कार उठाया!

खोल दिया जब शारद-अंचल,
पावस की मावस झरने को!
शेष रहा अब क्या करने को!

बाँध दिया जब तुमने उमड़ा,
हाहाकार विकल सागर का,
मौन किया बजती कल-कल ध्वनि,
फूटा मधु अंतर-निर्झर का!

अग्नि-लोक की शीतलता को तुमने किया पुरानी संगिनि !
भरने नीली व्यथा गगन में उड़ा दिया उच्छ्वास विहंगिनि !

अवसादों की कलियाँ भी क्या,
शेष रहीं यौवन भरने को ?
शेष रहा अब क्या करने को !

देकर अक्षय निधियाँ भी तो,
जीवन को कर दिया भिखारी,
बैठा पल-पल में, मूरत को,
सूनेपन का किया पुजारी ।

मधु-स्वप्नों को सुधा पिलाकर जिला सदा को दिया हलाहल,
गीतों के सूखे वर्णों में उमड़ाये आँसू के बादल !

बचे रहे क्या दृग-भरे दृग
पूनों के, काजल भरने को ?
शेष रहा अब क्या करने को ?

सूनी चितवन के पथ पर ही;
लगा दिया मर्मों का मेला !
हलकी श्वासों पर लिख दी है,
कितनी गहरी सुधि की बेला !

जलती साधों के दीपक को देकर स्नेह भरा छलकाया,
श्वास-मिलन के मंदिर में ही विरह चिता का साज सजाया ।

क्या न डुबाकर तृप्ति-सिंधु में,
कहा अभावों में तिरने को ?
शेष रहा अब क्या करने को ?

मंजिल का जो छोर न दीखे,
उस पथ की ही पथी बनाया !

दूर कहीं खोई झनकारों
को सुनने का व्रती बनाया !
पीने को दूरत्व न जाने कब से यह अपनत्व जलाया,
बंदी अपनी कारा में कर जीवन को चिरमुक्त बसाया !
एक निमिष की झाँकी का,
अमरत्व दिया रो रो मरने को !
शेष रहा फिर क्या करने को ?

ओ पिपासित !
ओ पिपासित क्षुद्र मानव, क्यों लगा प्रतिबंध तुझ पर !
हँस न सकता यदि यहाँ तो, क्यों न रो पाता हृदय-भर ?
देख, अंबर-अंक में नित,
दुबक तारक-बाल रोती ।
देख तटिनी पुलिन-उर से,
लिपट अपने घाव धोती ।
देख, रजनी तिमिर से मिल,
निज हृदय का भार खोती ।
देख, फूलों के हृदय की पीर,
लेकर अनिल ढोती ।
कह तुझे अवलंब किसका, जा लगे तू किधर बहकर ?
ओ पिपसित क्षुद्र मानव क्यों लगा प्रतिबंध तुझपर ?
सजल बादल का हृदय भी,
पिघल गिरता है अवनि पर ।
अचल उर को चीर बहता,
आँसुओं का मुक्त निर्झर ।

रो रहे हैं काँपते से,
शुष्क पल्लव करुण 'मरमर'
विकल बुलबुल, डालियों पर,
है रही अविरल रुदन कर ।
नयन का तू कोष अक्षय, ले न पाता विश्व को भर
ओ पिपासित क्षुद्र मानव क्यों लगा प्रतिबंध तुझ पर
रात भर दीपक-शिखायें,
रुदन कर, करतीं सवेरा ।
रात भर प्यासा पपीहा,
रुदन कर लेता बसेरा,
रात रोती, आँसुओं से,
भीग उठता भूमि-अंचल ।
हहरकर रोता दिवा-निशि,
सिंधु—सीमाहीन चंचल !
पर न पाते बरस जग में उमड़ तेरे नयन जलधर ।
ओ पिपासित क्षुद्र मानव क्यों लगा प्रतिबंध तुझ पर ?
विश्व का कण कण सुनाता,
अमित करुणा-पूर्ण-क्रंदन !
किंतु तेरे मौन रोदन पर
कठिन कितना नियंत्रण !
प्राण-बंदी रुद्ध गायन,
मौन पलकों का प्रकंपन
रोकना है श्वास-तारों में,
न जागे व्यथित स्पंदन !
बहन गल कर जायँ तेरे विश्व में करुणा-भरे स्वर !
ओ पिपासित क्षुद्र मानव क्यों लगा प्रतिबंध तुझ पर ?

बाँध पाते तुम न आँसू—
डोर से भी दुःख-ज्वाला।
बोल पाता पींजरे में
भी नहीं दुख-विहग पाला।
नयन-नौका आँसुओं में,
तिर न जाये रोकते हो।
अश्रु-बूँदें दुख-कथायें,
लिख न जावें रोकते हो!
क्रंदनों का ही तुम्हारे जग रहा उपहास क्यों कर?
ओ पिपासित क्षुद्र मानव क्यों लगा प्रतिबंध तुझ पर?
प्राण-तन-मन को दबाये,
अश्रुओं का भार मानव?
शुष्क अधरों में घिरे क्यों,
उमड़ते उद्गार मानव?
नयन-कूलों में रुके क्यों,
प्रलय की यह धार मानव?
अश्रु का, अंतर बना संगम,
चला क्यों पार मानव?
हाय! होना शांत तुझको ज्वाल में निर्धूम बुझकर!
ओ पिपासित क्षुद्र मानव, क्यों लगा प्रतिबंध तुझ पर?